साप्ताहिक
Live not just breaTHE

MPHIN/2015/63220
MP/IDC1528/16-18

दि कार्मिक पोस्ट

वर्ष : 7, अंक : 18 (प्रति बुधवार), इन्दौर 22 दिसंबर से 28 दिसंबर 2021 पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

बढ़ता कार्बन उत्सर्जन एशियाई मॉनसून में भारी बदलाव के लिए है जिम्मेवार- अध्ययन

मुंबई। एशियाई मॉनसून पृथ्वी पर सबसे बड़ी मॉनसून प्रणाली है। यह एक विशाल क्षेत्र में नमी की आपूर्ति को नियंत्रित करता है। जो निम्न-अक्षांश पश्चिमी प्रशांत और हिंद महासागरों से लेकर मध्य-अक्षांश पूर्वी एशिया तक फैला हुआ है। प्राचीन काल से एशियाई मानसून में किस तरह बदलाव हो रहा है शोधकर्ताओं ने इसके बारे में पता लगाया है।

शोधकर्ताओं की एक अंतरराष्ट्रीय टीम ने ओलिगोसीन युग के अंत के दौरान उच्च वायुमंडलीय सीओ 2 की मात्रा और गर्म जलवायु की स्थितियों के तहत, कक्षीय पैमाने पर एशियाई मॉनसून में होने वाले बदलाव के बारे में खुलासा किया है। शोधकर्ताओं की टीम में चीन, यूके, नीदरलैंड और ऑस्ट्रेलिया के शोधकर्ता शामिल थे। यहां बताते चलें कि ओलिगोसीन पैलियोजीन काल का तीसरा और अंतिम युग था और यह वर्तमान से लगभग 3.39 करोड़ वर्ष पहले तक मौजूद हुआ करता था। इओसीन-ऑलिगोसीन काल के बाद 3.4 करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी एक गर्म ग्रीनहाउस अवस्था में थी। जहां स्थायी ध्रुवीय बर्फ की चादरों के रूप में एक एकध्रुवीय आइसहाउस या बर्फ से ढकी अवस्था थी। अंटार्कटिका एक महाद्वीपीय पैमाने पर बर्फ की चादर के विकास के साथ बदल गया। इस बदलाव के दौरान एक निश्चित मात्रा में ठंडा होने के बावजूद भी पृथ्वी आज की तुलना में काफी अधिक गर्म थी।3.39 और 2.303 करोड़ साल के बीच ओलिगोसीन नया बना एकध्रुवीय आइस हाउस या बर्फ से ढका हुआ था जो दुनिया में पहले युग का प्रतिनिधित्व करता है। उस समय वायुमंडलीय सीओ 2 की सांद्रता 400 और 800 प्रति मिलियन (पीपीएम) के बीच थी औसत वैश्विक समुद्री सतह का तापमान आज की तुलना में 8 डिग्री सेल्सियस अधिक था और एक बिना बर्फ वाला उत्तरी गोलार्ध था। अध्ययन के प्रमुख प्रोफेसर एओ ने कहा ओलिगोसीन के दौरान अधिक सीओ 2 ने दुनिया भर में मॉनसून के बदलाव और गतिशीलता बढ़ाई। वहीं वर्तमान में मानवजनित सीओ2 में हो रही वृद्धि के कारण मॉनसून प्रभावित हो रहा है। इस तरह के शोध से निरंतर वायुमंडलीय सीओ2 के बढ़ने के बाद भविष्य के हाइड्रोलॉजिकल परिवर्तनों के पूर्वानुमानों में सुधार करने में मदद मिलती है। इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) की छठी आकलन रिपोर्ट में भी तापमान में वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। उत्तर पूर्वी तिब्बती पठार के किनारे पर लान्झोउ बेसिन का अच्छी तरह से पता चलता है, नदी तलछट या गाद इओसीन से मिओसीन तक लगभग पूरी अवधि तक फैला हुआ था। गाद या तलछट जो लगातार पिछली गर्म अवस्था से लेकर वर्तमान परिस्थितियों तक मौजूद है। यह पिछली अवधि के दौरान जलवायु के प्रभाव का अध्ययन करने का एक उत्कृष्ट अवसर प्रदान करता है। शोधकर्ताओं ने 4 चुंबकीय संवेदनशीलता और रूबिडियम-से-स्ट्रोंटियम अनुपात (माईर) लंबे ग्रीष्मकालीन मॉनसून रिकॉर्ड की स्थापना की। यह लगातार 2.81 से 2.41 करोड़ साल की अवधि में

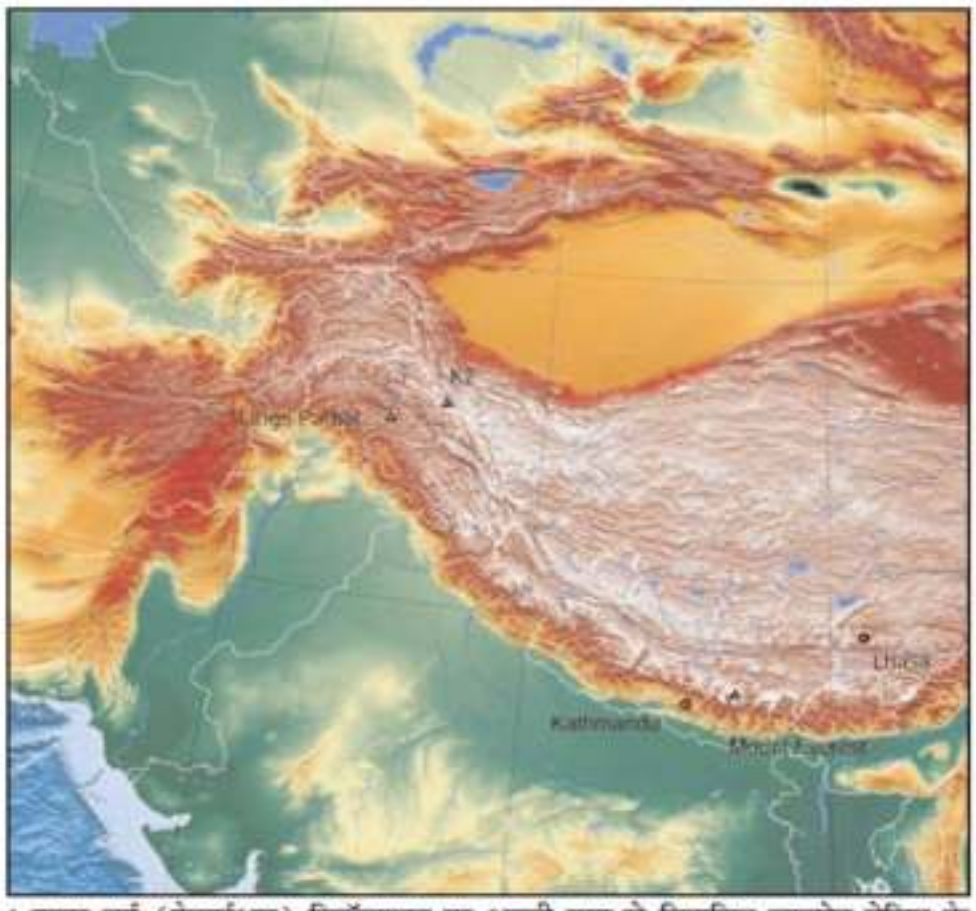

4 हजार-वर्ष (केवाईआर) रिज़ॉल्यूशन पर अच्छी तरह से विकसित लान्झोउ बेसिन के तलछट तक फैला हुआ है। ये रिकॉर्ड उच्च-सीओ 2 में कक्षीय पैमाने पर एशियाई मॉनसून परिवर्तनशीलता को प्रकट करते हैं, ओलिगोसीन युग के दौरान दुनिया में गर्म जलवायु थी, 2 करोड़ साल पहले उत्तरी गोलार्ध में हिमनद थे। भूमि से लेकर समुद्र तक के संबंधों और खगोलीय बल सिद्धांत के आधार पर, ओलिगोसीन के अंत के दौरान इस कक्षीय पैमाने पर क्षेत्रीय मानसूनी वर्षा में बदलाव आया। यह बदलाव सूर्य की गर्मी के विलक्षणता मॉडुलन, एक कम अक्षांश बल, और हिमनद-इंटर ग्लेशियल अंटार्कटिक बर्फ शीट के उतार-चढ़ाव के संयोजन द्वारा नियंत्रित किया गया था। संयुक्त रूप से निम्न और उच्च अक्षांश बल ने क्षेत्रीय तापमान, पश्चिमी प्रशांत और हिंद महासागरों में जल वाष्प लाने और एशियाई मॉनसून की तीव्रता और विस्थापन को नियंत्रित करके वर्षा की परिवर्तनशीलता को बदल दिया। इस शोध से पता चलता है कि एशियाई मॉनसून निरंतर ग्लोबल वार्मिंग के लिए अतिसंवेदनशील है, इसके लगातार बढ़ने के आसार हैं क्योंकि मानवजनित उत्सर्जन में वृद्धि जारी है। यह अध्ययन साइंस एडवांस में प्रकाशित हुआ है, इसकी अगुवाई चीनी विज्ञान अकादमी के पृथ्वी पर्यावरण संस्थान के प्रोफेसर एओ होंग ने किया है। शोध से पता चलता है कि एशियाई मॉनसून पर लगातार बढ़ते तापमान का भारी असर पड़ रहा है, मॉनसून में बदलाव के आसार हैं क्योंकि मानवजनित उत्सर्जन में वृद्धि जारी है।

जलवायु परिवर्तन के चलते तेल और गैस के 40 फीसदी भंडारों पर मंडरा रहा है खतरा

मुंबई। जलवायु परिवर्तन के चलते तेल और गैस के करीब 40 फीसदी भंडारों पर खतरा मंडरा रहा है। यह जानकारी बिज़नेस रिस्क का आंकलन करने वाली कंपनी वेरिस्क मेपलक्रॉफ्ट द्वारा साझा की गई जानकारी में सामने आई है। विश्लेषण के अनुसार इन तेल और गैस भण्डार की कुल क्षमता 60,000 करोड़ बैरल से भी ज्यादा है जो बार-बार आने वाले तूफानों, बाढ़, समुद्र के बढ़ते जलस्तर और चरम तापमान के चलते उच्च या अत्यधिक जोखिम का सामना कर रहे हैं। इतना ही नहीं वेरिस्क मेपलक्रॉफ्ट द्वारा जारी जलवायु परिवर्तन एक्सपोजर इंडेक्स के मुताबिक सऊदी अरब, इराक और नाइजीरिया उन प्रमुख तेल और गैस उत्पादक देशों में से हैं जहां जलवायु संबंधी घटनाओं का जोखिम बड़े पैमाने पर वैश्विक बाजार में तेल की उपलब्धता को प्रभावित कर रहा है। देखा जाए तो इन तीनों देशों में वाणिज्यिक रूप से तेल और गैस की लगभग हिस्सेदारी करीब 19 फीसदी है। गौरतलब है कि पहले ही जलवायु सम्बन्धी आपदाएं बड़े पैमान पर तेल और गैस की आपूर्ति को बाधित करती रही हैं। ऐसे ही एक मामले इस साल टेक्सास में सामने आया था जब भारी सर्दी के चलते अमेरिकी का तेल और गैस उत्पादन तीन वर्षों के न्यूनतम स्तर पर पहुंच गया था। वहीं तूफान इडा के चलते मेक्सिको की खाड़ी में रिकॉर्ड 55 बार तेल के लीक होने की घटनाएं सामने आई थी, जिसके कारण कच्चे तेल और परिष्कृत उत्पाद दोनों की आपूर्ति में ऐतिहासिक रूप से व्यवधान पैदा हो गया था। इसी तरह रूस में रिकॉर्ड गर्मी ने पर्माफ्रॉस्ट के पिघलने की रफ्तार को और तेज कर दिया था, जिसके चलते उत्तरी क्षेत्रों में 40 फीसदी इमारतों और बुनियादी ढांचे को नुकसान पहुंचा था। यह क्षेत्र तेल और गैस उत्पादन पर बहुत अधिक निर्भर है।

ऑनलाइन कॉन्फ्रेंसिंग की मदद से 94 फीसदी तक कम किया जा सकता है कार्बन पदचिह्न

नई दिल्ली। पिछले एक या दो वर्षों में कोविड-19 के डर से जिस तरह से राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय स्तर पर होने वाले सम्मेलन अब ऑनलाइन होते जा रहे हैं उसकी वजह से जलवायु परिवर्तन के असर को कम करने का एक नया और प्रभावी तरीका दुनिया के सामने आया है।

हाल ही में प्रकाशित एक शोध से पता चला है कि व्यक्तिगत तौर पर उपस्थित होने की जगह ऑनलाइन होने वाले सम्मलेन जलवायु और पर्यावरण के दृष्टिकोण से कहीं ज्यादा बेहतर विकल्प हैं। कॉर्नेल विश्वविद्यालय द्वारा किए इस अध्ययन में सामने आया है कि यदि किसी प्रोफेशनल कांफ्रेंस को पूरी तरह ऑनलाइन कर दिया जाए तो उससे कांफ्रेंस के कार्बन पदचिह्न को 94 फीसदी तक कम किया जा सकता है। इसी तरह से कांफ्रेंस के ऊर्जा उपयोग में भी 90 फीसदी तक की कटौती की जा सकती है। इतना ही नहीं जर्नल नेचर कम्युनिकेशन्स में प्रकाशित इस शोध से पता चला है कि यदि सम्मलेन को पूरी तरह ऑनलाइन करने की जगह हाइब्रिड कर दिया जाए, तो भी इससे जलवायु परिवर्तन को रोकने में काफी मदद मिलेगी। अनुमान है कि यदि कांफ्रेंस में भाग लेने वाले आधे से ज्यादा लोग ऑनलाइन न होकर व्यक्तिगत तौर पर उपलब्ध होते हैं, तो भी उसके बावजूद कांफ्रेंस का कार्बन फुटप्रिंट 67 फीसदी तक घट सकता है। यदि वैश्विक स्तर पर होने वाले सम्मेलन, आयोजनों और उससे जुड़े उद्योग के कुल कार्बन पदचिह्न को देखें तो वो अमेरिका के कुल वार्षिक ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन के लगभग बराबर है। इस बारे में शोध और कॉर्नेल विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रखने वाले शोधकर्ता फेंग्की यू ने बताया कि हम सभी सम्मेलनों में जाते हैं जिसके लिए हवाई जहाज की यात्रा करते हैं और सड़क परिवहन का उपयोग करते हैं। साथ ही होटलों में रहते हैं, लोगों से मिलते-जुलते और बात करते हैं। यदि इस पर्दे के पीछे की समस्या को व्यापक रूप से देखें तो यह सब गतिविधियां बहुत बड़े पैमाने पर ऊर्जा की खपत करती है और कार्बन उत्सर्जन करती हैं। हम इन सम्मेलनों के लिए बहुत सारे प्रिंट लेते हैं, अलग-अलग भोजन की पेशकश करते हैं जिससे बड़े पैमाने पर म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट उत्पन्न होता है, लेकिन हम उनका उल्लेख नहीं करते हैं। हालांकि वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग के लिए भी बहुत सारे उपकरणों और ऊर्जा की जरुरत पड़ती है। ऐसे में इन सम्मेलनों के आयोजन में बहुत सी ऐसी बाते होती हैं, जिसपर गंभीरता से विचार करने की जरुरत है। ऐसे में यू ने जानकारी दी है कि यदि उत्सर्जित होने वाली कार्बन की मात्रा का अध्ययन करने के साथ ही, क्षेत्रीय तौर पर सम्मेलनों के लिए सही स्थान का चयन करके और ऑनलाइन भागीदारी में इजाफा करके इन सम्मेलनों के कारण उत्सर्जित होने वाली ग्रीनहाउस गैसों में कमी की जा सकती है। शोध के अनुसार, 2017 में, करीब 180 देशों के 150 करोड़ लोगों ने सम्मेलनों में भाग लेने के लिए यात्राएं की थी। जिन पर करीब 189.7 लाख करोड़ रुपए का खर्च आया था। अध्ययन से पता चला है कि नियमित होने वाले अंतराष्ट्रीय सम्मलेन जिनमें औसतन 50 से ज्यादा लोग भाग लेते हैं उनकी संख्या पिछले एक दशक में दोगुनी हो चुकी है। इतना ही नहीं अनुमान है कि कन्वेंशन इंडस्ट्री का बाजार अगले एक दशक में 11.2 फीसदी की दर से बढ़ सकता है। शोधकर्ताओं का मानना है कि यदि ऐसा होता है तो उससे उत्सर्जित होने वाली ग्रीनहाउस गैसों में भी वृद्धि हो जाएगी। यह भी पता चला है कि इन कॉन्फ्रेंस में प्रति भागीदार का कार्बन पदचिह्न 3,000 किलोग्राम कार्बन डाइऑक्साइड (सीओ2) के बराबर तक पहुंच चुका है। ऐसे में यदि पेरिस समझौते के लक्ष्यों को हासिल करना है तो कार्यक्रम के आयोजकों को पर्यावरण और जलवायु पर भी ध्यान देने चाहिए। साथ ही महामारी से उबरने के बाद भी ऑनलाइन कांफ्रेंस को बढ़ावा देना चाहिए। वहीं यदि प्रतिभागियों को बुलाना भी है तो उन्हें उड़ान बुक करते समय रास्ते में ठहराव को कम करना चाहिए। साथ ही हाइब्रिड और इन-पर्सन मीटिंग आयोजित करते समय आयोजकों को वो मीटिंग कहां करनी है उस स्थान का चयन भी ध्यान से करना चाहिए, जिससे परिवहन के साधनों और दूरी का भी ख्याल रखना होगा। वहीं ऊर्जा दक्षता में सुधार के साथ-साथ, नवीकरणीय ऊर्जा की हिस्सेदारी को भी बढ़ाना महत्वपूर्ण है।

कैसे होगा सतत विकास का लक्ष्य हासिल जब हर दिन हो रही है 6,575 नवजातों की मौत

दुनिया भर में हर रोज 6,575 से ज्यादा नवजातों की मौत हो रही है। ऐसे में बड़ा सवाल यही है कि कैसे 2030 तक दुनिया एसडीजी 3.2 के लक्ष्य को हासिल कर पाएगी। संयुक्त राष्ट्र द्वारा हाल ही में जारी रिपोर्ट को देखकर तो ऐसा नहीं लगता। लेवल्स एंड ट्रेंड इन चाइल्ड मोर्टेलिटी नामक इस रिपोर्ट के हवाले से पता चला है कि 2020 के दौरान दुनिया भर में करीब 50 लाख बच्चे अपना पांचवा जन्मदिन नहीं देख पाए थे, जिनमें 24 लाख नवजात भी शामिल थे।

इतना ही नहीं 2020 में 5 से 24 वर्ष के 22 लाख बच्चों और युवाओं की मौत असमय हो गई थी, जिनमें से करीब 43 फीसदी किशोर थे। यदि रिपोर्ट में सामने आए आंकड़ों को देखें तो 2030 तक दुनिया के 50 से भी ज्यादा देश पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्यु दर में कमी लाने के अपने लक्ष्य को हासिल नहीं कर पाएंगे। वहीं 60 से भी ज्यादा देशों ने नवजातों की मृत्युदर में कमी लाने के लिए जरुरी तत्काल कदम न उठाएं तो वो अपने उस लक्ष्य को हासिल करने से चूक जाएंगे। गौरतलब है कि सतत विकास के लक्ष्य (एसडीजी) 3.2 के तहत 2030 तक दुनिया भर में 5 साल या उससे कम उम्र के नवजात शिशुओं और बच्चों की होने वाली मृत्यु दर में कमी लाना था। इस लक्ष्य के तहत जहां नवजात शिशुओं की मृत्यु दर को प्रति हजार जीवित जन्मे बच्चों में 12 पर लाना था, जबकि पांच वर्ष या उससे कम उम्र के बच्चों की मृत्युदर को प्रति हजार 25 पर सीमित करना था। भारत में पिछले तीन दशकों के दौरान स्थिति में काफी सुधार आया है, जहां 2020 में पांच वर्ष या उससे कम उम्र के बच्चों की मृत्युदर 32.6 प्रति हजार दर्ज की गई थी, जबकि 1990 में 126.2 प्रति हजार रिकॉर्ड की गई थी। वहीं नवजातों की मृत्युदर 1990 में 57.4 थी, जो 2020 में घटकर 20.3 पर पहुंच गई थी।

आंकड़ों की कमी और उनकी गुणवत्ता भी है बड़ी समस्या- रिपोर्ट में यह भी सामने आया है कि दुनिया के अधिकांश देशों, विशेष तौर पर आर्थिक रूप से कमजोर देशों में बच्चे, किशोर और युवाओं के मृत्युदर सम्बन्धी नवीन और विश्वसनीय आंकड़ें उपलब्ध नहीं हैं, जोकि अपने आप में एक बड़ी समस्या है। इस समस्या को कोविड-19 महामारी ने और बढ़ा दिया है, जो आंकड़ों की उपलब्धता और उसकी गुणवत्ता में सुधार के लिए अतिरिक्त चुनौतियां पैदा कर रही है।

देखा जाए तो दुनिया के केवल 60 देशों मुख्य रूप से उच्च आय वाले देशों में बेहतर नागरिक पंजीकरण और सांख्यिकी प्रणाली मौजूद है जिसकी मदद से मृत्युदर सम्बन्धी उच्च गुणवत्ता वाले आंकड़ें हासिल किए जा सकते हैं। वहीं निम्न और मध्यम आय वाले देशों में अभी भी विशाल डेटा अंतराल बना हुआ है। जहां 135 में से करीब दो-तिहाई यानी 97 देशों में पिछले तीन वर्षों के मृत्युदर सम्बन्धी विश्वसनीय आंकड़ें उपलब्ध नहीं हैं। जिस पर गंभीरता से गौर किए जाने की जरुरत है। बड़े दुःख की बात है कि आज एक तरफ जहां हम विकास की इतनी बड़ी-बड़ी बाते कर रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ हम अपनी आने वाली पीढ़ी को भी बचाने में नाकाम रह रहे हैं। दुःख तब होता है जब इन मौतों को टाला जा सकता था, पर इसके बावजूद हम उन बच्चों को महज इसलिए बचा पाने में असमर्थ रहे थे क्योंकि हमने उनके स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान नहीं दिय था, और उनके लिए जरुरी सेवाएं उपलब्ध नहीं करा पाए थे।

प्रयास से बचाई जा सकती हैं 80 लाख बच्चों की जिंदगियां- रिपोर्ट के मुताबिक यदि इस समस्या पर अभी गंभीरता से ध्यान न दिया गया और वर्तमान रुझान जारी रहते हैं तो 2030 तक पांच वर्ष से कम आयु के 4.8 करोड़ से ज्यादा बच्चों की मृत्यु हो जाएगी, जिनमें से आधे नवजात होंगें। इनमें से आधे से अधिक करीब 57 फीसदी मौतें अफ्रीका में होंगी, जिनकी कुल संख्या करीब 2.8 करोड़ होगी। वहीं अन्य 25 फीसदी मौतें दक्षिणी एशिया में सामने आएंगी, जोकि करीब 1.2 करोड़ के आसपास होंगी। वहीं यदि 54 देश जोकि सतत विकास के लक्ष्य से भटक चुके हैं वो इस लक्ष्य को हासिल कर लेते हैं तो उसकी मदद से 2021 से 2030 के बीच पांच वर्ष से कम उम्र के करीब 80 लाख बच्चों की जिंदगियां बचाई जा सकती हैं। साथ ही इसकी मदद से 2030 तक हर साल होने वाली पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्यु को करीब आधा (25 लाख) किया जा सकता है। स्थिति में सुधार के लिए विश्व बैंक से जुड़े फेंग झाओ ने देशों के लिए बच्चों और महिलाओं से जुड़ी स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार, पोषण और अन्य जीवन रक्षक उपायों में निवेश करने की जरुरत पर बल दिया है। जिससे बाल मृत्यु दर में कटौती की जा सके और एसडीजी के लक्ष्यों को हासिल किया जा सके। सुनिश्चित किया जा सके की उनकी शारीरिक और भावनात्मक जरूरतों को जीवन भर पूरा किया जा रहा है।

साभार - डाउन टू अर्थ

आदिवासियों के अधिकार और अस्मिता के अनुत्तरित अध्याय

न्यूजर्सी। 28 मई 1830 को तत्कालीन अमेरिका की संसद में एक क़ानून पारित हुआ जिसे 'इंडियन रिमूवल एक्ट' के नाम से जाना जाता है। लेकिन यह संसद मे पारित होने वाले तमाम कानूनों से अलहदा था। वह इसलिये कि अमरीका के अभिजात्य गोरों के भीतर यह भय समा गया कि मूलनिवासी 'इंडियन' कभी भी विद्रोह कर सकते हैं। तब विद्रोह की आशंका को समूल नष्ट करने वाले इस क़ानून को ईजाद किया गया और छलपूर्वक समझौते के माध्यम से मूलनिवासी 'इंडियन' को मिसिसिपी नदी के तटों से सदा सर्वदा के लिये खदेड दिया गया। इतिहास कहता है कि वर्ष 1838-1839 के कठिन सर्दियों में हजारों चिरूकिस आदिवासियों को मिसिसिपी नदी के संपत्र भूमि से उखाड़ दिया गया। लगभग 4000 से अधिक आदिवासी, हिंसा और भूख से मारे गये जिसे 'आंसुओं के निशां' (ट्रेल ऑफ टीयर्स) के नाम से मानवसंहार के रूप में जाना जाता है।

तब जाहिरा तर्क था कि पश्चिमी क्षेत्रों में अमरीकी साम्राज्य का विस्तार किया जा सके। तत्कालीन राष्ट्रपति एंड्रू जैक्सन ने स्वेच्छा से विस्थापन स्वीकार करने वालों को इमदाद के रूप में सुदूर मैदानों मे ज़मीन देने का वायदा किया। लेकिन जिन 'इंडियन' ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया ऐसे हजारों लोगों के अस्तित्व और अधिकार हमेशा के लिये नेस्तनाबूद कर दिये गये। अमरीकी साम्राज्य द्वारा लाखों हेक्टेयर भूमि, अमरीकियों के विकास और समृद्धि के नाम हड़प लिया गया। वर्ष 1840 के बाद इन्ही क्षेत्रों में कपास की खेती शुरू हुई और गुलामों की नई बस्तियां बसाई गयी। ठीक 160 बरसों के बाद मार्च 1980 में इस क़ानून को वापस लेने की घोषणा की गयी। फिर लगभग 12 बरसों के बाद 1993 में जॉर्जिया जनरल असेंबली में केयरो आदिवासियों को सरकार द्वारा यह (तथाकथित) राजनैतिक तोहफ़ा दिया गया कि वो अपने मूल भूमि में भ्रमण करने के लिये नियमानुसार अनुमति प्राप्त करके आ तो सकते हैं, लेकिन जब तक यह क़ानून पूरी तरह से वापस नहीं लिया जाता उन्हें यहाँ वैधानिक रूप से 'बसने' का अधिकार नहीं होगा। यह महज संयोग नहीं है कि अमरीका के मिसिसिपी के तटों के 'इंडियन' से सुदूर भारत के पूर्वी गोलार्ध में रहने वाले 'आदिवासियों' की जिंदगी के कथानक और कथाओं में एक अभूतपूर्व समानता है। फ़र्क केवल इतना है कि यहाँ भारत में अपने जंगलों और जमीनों से जड़हीन कर दिये गये लाखों मूलनिवासी-आदिवासियों को भारतीय संविधान में दर्ज़ 'आदिवासियों के अधिकारों और संवैधानिक सुरक्षा' के तमाम प्रावधानों के बावजूद अस्तित्वहीन कर दिया गया। भारत में नगरनार, नेतरहाट, नियामगिरी और नगरौला से विकास और समृद्धि के नाम पर खदेड दिये गये लाखों 'आदिवासियों' और अमरीका में मिसिसिपी के तटों से उखाडे गये 'इंडियन' के मध्य सबसे बड़ी समानता यही है कि इन्ह उनमें से कोई भी फिर कभी 'अपनी मूल-आदिवासी अस्मिता' अर्थात आदिवासियत को वापस नहीं पा सका। छत्तीसगढ़ के कवर्धा जिले के बोकराबहरा के आदिवासी मुखिया शिकारी बैगा ने अपने दादा से कहानी सुना था कि किस तरह मैकाल पहाड़ियों के वनसंपदा से भरपूर भूमि से बेदखल करते हुये अपनी ही चुनी हुई सरकार ने हजारों बैगाओं को सूखे मैदानों की ओर धकेल दिया। अपने आपको हमेशा से 'सुखवासी' (अर्थात सुख में रहने वाले) कहने और मानने वाले बैगाओं को 'सरकारी विपन्नता के नये समीकरणों' में कैद करते हुये तथाकथित 'ग़रीबी रेखा' से नीचे रहने को अभिशप्त कर दिया गया। आज यदि बैगा, अपने ही आजा-पुरखा की जमीनों से जुदा हैं तो उसका दोष किसी औपनिवेशिक साम्राज्य का नहीं। बल्कि बैगा, उस जनतांत्रिक 'गणराज्य' के फ़रमान का शिकार बने जिसे उम्मीदों के साथ उन्होंने स्वयं चुना था। एकता परिषद द्वारा किया गया अध्ययन (वर्ष 2010) बताता है कि, प्रचुर जैव-विविधता का उपयोग करते हुये 22 से अधिक प्रकार के परम्परागत बीजों से फसल, फल-फूल और सब्जियां पैदा करने वाला बैगा समाज आज 'कुपोषितों' की कतार में भौंचक खड़ा कर दिया गया है। बैगाओं का पुरातन गौरव और अस्मिता आज समाज और सरकार दोनों अप्रासंगिक मान लिया गया। विडंबना ही है कि न बैगाओं की अपनी मूलभूमि के मुआवजे मिले और न ही उन्हें मैदानों में दो-गज ज़मीन का स्वामित्व मिला।

अमरीका के मिसिसिपी नदी के तटों से बर्बरतापूर्वक बेदखल मूलनिवासी 'इंडियन' और वहां से हजारों मील दूर मैकाल पहाड़ियों की श्रृंखलाओं से विस्थापित मूलनिवासी 'बैगाओं' के मध्य तथाकथित विकास और समृद्धि के झंडाबरदार, वो पूरी (तथाकथित) सभ्य समाजें और संस्कारित सरकारें खड़ी है, जिसके ये अपराध अक्षम्य हैं। केवल इसलिये नहीं कि उसने एक सभ्य समाज को सदा सर्वदा के लिये विपन्नता के कगार पर धकेल दिया बल्कि इसलिये भी कि उसके राजनैतिक वासनाओं ने पूरी आदिम सभ्यता के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। विश्व राजनीति के नये इतिहास में सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से अब तक तो 'आदिवासी अस्मिता' के एवज में मुआवजे के कोई मानक निर्धारित नहीं किये गये हैं। सौभाग्य इसलिये कि मानवता का मुआवजे में अवमूल्यन नहीं हो सकता, इतनी तो समझ रही। और दुर्भाग्य इसलिये कि इस समझ के बावजूद विकास और समृद्धि के नाम पर पूरी आदि मानवता को ही सुनियोजित तरीके से समाप्त किया गया और किया जा रहा है।

आदिवासी क्षेत्रों की अथाह संपदा की लूट के साथ और उसके बाद तथाकथित विकास के चौसर पर निहत्थे खडे मूलनिवासी आदिवासियों की अस्मिता, आज शेष समाज और सरकार के संगठित साज़िशों का सरल आखेट बन चुका है। अमरीका के नेशनल साइंस फाउंडेशन द्वारा कराये गये वैश्विक शोध के पश्चात् जर्नल ऑफ़ एनवायरनमेंट मैनेजमेंट में प्रकाशित शोध-आलेख (2017) में विस्तार से बताया गया है कि पूरी दुनिया में आदिवासियों-मूलनिवासियों के संसाधनों की लूट अथवा अधिग्रहण में मानव और सांस्कृतिक संपदा के मूल्यांकन के अवसर ही नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि वैश्विक राज्यतंत्र ने विकास और समृद्धि के नाम पर आदिम सभ्यता को समाप्त करने के स्वयंसिद्ध अधिकार हासिल कर लिये हैं।

आदिवासी अस्मिता, वास्तव में इस धरती की आदिम धरोहर है जिससे सभ्यतायें और संस्कृतियाँ जनमी हैं। इसे समाप्त करने का अर्थ उस 'अंत की शुरुआत' है, जिसके बाद धरती में मानव के अस्तित्व पर प्रकृति के प्रश्नचिन्ह लगेंगे ही। दुर्भाग्य से इसे 'जलवायु परिवर्तन के वैश्विक समझौतों' से रोका नहीं ही जा सकता। वह इसलिये नहीं कि समझौतों के प्रति राजनैतिक निष्ठाओं की कमी है, बल्कि इसलिये कि इन सभी समझौतों में 'मानवीय भूलों' को सुधारने के प्रति कोई प्रतिबद्धता है ही नहीं। समझौतों के दायरों में जिन तकनीकी और वैज्ञानिक समाधानों की वकालत की जा रही है वह 'स्थायी समाधान' है ही नहीं।

वास्तव में मानव सभ्यता के पुनर्स्थापना के अवसरों को तलाशे और तराशे बिना, मशीनों के बदले मानवीय समाधानों को वरीयता दिये बिना, भविष्य की आशंकाओं के बजाये इतिहास की भूलों को सुधारे बिना, और धरती के आदिम वंशजों की सांस्कृतिक धरोहरों के बिना 'बेहतर और सुरक्षित भविष्य' का कोई भी समाधान आधा-अधूरा ही नहीं, बल्कि समग्र रूप से 'अंतिम और आत्मघाती' ही साबित होगा।

साभार - छत्तीसगढ़ टू अर्थ

कोयला से बनने वाली बिजली की इस साल रिकॉर्ड मांग, शून्य उत्सर्जन का रास्ता बेहद मुश्किल...

पेरिस एक नई रिपोर्ट के मुताबिक, कोयले से बनने वाली बिजली की वैश्विक मांग इस साल छह फीसदी ज्यादा यानी 7906 मिलियन टन और उत्पादन नौ फीसदी यानी 10350 टेरावाट घंटे बढ़ गया है। पेरिस की एक रिसर्च यूनिट, इंटरनेशनल एनर्जी एजेंसी यानी आईईए के पिछले सप्ताह प्रकाशित एक पत्र में बताया गया कि इस साल भारत में इसका उत्पादन 12 फीसदी और चीन में नौ फीसदी बढ़ा है , जो दोनों देशों के लिए एक रिकॉर्ड हैं। हालांकि रिपोर्ट यह भी बताती है कि जहां तक बिजली आपूर्ति की बात है, तो उत्पादन, मांग के अनुकूल नहीं रहा। आईईए के मुताबिक, आपूर्ति-श्रंखला और विपरीत मौसम की स्थितियों के चलते बिजली की आपूर्ति में बाधाएं आईं, जिसके चलते बिजली में कटौती की गई और इस वजह से कई फैक्टिट्रयों को निष्क्रिय होना पड़ा। आईईए ने अनुमान लगाया कि इसे ठीक करने क लिए चीन, भारत, इंडोनेशिया और रूस जैसे प्रमुख कोयला उत्पादक देशों में उत्पादन को बढ़ावा देने की उम्मीद है। नतीजतन, कोयला उत्पादन 2022 में अपने उच्चतम स्तर पर पहुंच जाएगा और फिर मांग के अनुकूल आपूर्ति सुनिश्चित की जा सकेगी। जलवायु परिवतर्न पर अंतर-सरकारी पैनल यानी आईपीसीसी ने 2018 में ग्लोबल वार्मिंग ऑफ 1.5 डिग्री सेल्सियस में कहा था कि वैश्विक तापमान को पूर्व- ओद्यौगिक स्तर से 1.5 डिग्री सेल्सियस बढ़ने से रोकने के लिए 2020 तक बिजली उत्पादन के शीर्ष पर पहुंचने के बाद इसे तेजी से घटाने की जरूरत है। उसने जोर दिया था कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए कोयले से बनने वाली बिजली का उत्पादन 2050 तक शून्य हो जाना चाहिए, जबकि 2030 तक इसे लगभग 66 फीसदी घटाना होगा।

इसके बावजूद जैसा कि आईईए रिपोर्ट बताती है कि इस साल दुनिया भर में बनने वाली बिजली में कोयले का उत्पादन 36 फीसदी होगा।। हालांकि यह 2007 की तुलना में अपने शीर्ष से पांच फीसदी कम होगा लेकिन फिर भी यह आईपीसीसी की अनुशंसाओं के अनुकूल नहीं होगा। कोरोना वायरस महामारी से उबरने के लिए तमाम देशों ने जीवाश्म ईंधन का उपयोग बढ़ाया है। अक्टूबर 2021 में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) द्वारा प्रकाशित नवीनतम प्रोडक्शन गैप रिपोर्ट में पाया गया कि सरकारों द्वारा उत्पादन योजनाओं और अनुमानों से वर्तमान वैश्विक स्तर की तुलना में लगभग 240 फीसदी अधिक कोयले का उत्पादन होगा। नवंबर 2021 में ग्लासगो में जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेंशन में अलग-अलग देशों के 26वें सम्मेलन (कॉप-26) में कोयला, चर्चा का केंद्र रहा था। यूनाइटेड किंगडम के प्रधान मंत्री बोरिस जॉनसन ने शिखर सम्मेलन में अपने देश की रणनीति को दर्शाने के लिए मार्केटिंग टर्म 'कैश, कोयला, कार और पेड़' का इस्तेमाल किया था। सम्मेलन में कई देशों ने 'ग्लोबल कोल टू क्लीन पावर ट्रांजिशन स्टेटमेंट' और 'पॉवरिंग पास्ट कोल एलायंस' जैसी घोषणाओं के माध्यम से कोयला से बनने वाली बिजली को चरणबद्ध तरीके से खत्म करने और विदेशों में कोयले का वित्तपोषण बंद करने को लेकर अपनी-अपनी प्रतिबद्धता जताई थी। इसके बावजूद आईईए की रिपोर्ट में पाया गया है कि अगर कोयले का उपभोग इसी तरह से होता रहा तो 2024 तक कॉर्बन उत्सर्जन वांछित से तीन जीगाटन ज्यादा बढ़ जाएगा और 2050 तक शून्य उत्सर्जन का लक्ष्य हासिल करना मुश्किल होता जाएगा। गौरतलब है कि नेट जीरो एमिशंस बाई 2050 सिनैरियो (एनजेडई) के तहत 2050 तक कॉर्बन उत्सर्जन शून्य करने का एक रोडमैप तैयार किया गया है। आईईए की रिपोर्ट के मुताबिक, कोयले के उपयोग में वैश्विक स्तर पर चीन का दबदबा है। इसमें बताया गया कि चीन कोयले का सबसे बड़ा उपभोक्ता, उत्पादक और आयातक है और दुनिया में इस क्षेत्र में उसके समानांतर कोई दूसरा देश नहीं है। रिपोर्ट में कहा गया है कि चीन के हाइड्रो, पवन, सौर और परमाणु ऊर्जा के विस्तार के प्रयासों के बावजूद, उसकी कोयले की खपत, कुल वैश्विक खपत के आधे से अधिक है। आईईए ने कहा कि भारत में, 2021 में बिजली मिश्रण में 74 फीसद कोयला शामिल था, जो 2020 में 72 फीसद से अधिक था। जैसे-जैसे बिजली की पहुंच बढ़ेगी, कोयले की मांग 2024 तक औसतन 3.9 फीसद बढ़ने की उम्मीद है। रिपोर्ट के मुताबिक, 2021 में हुई कमी को पूरा करने के लिए भारत आने वाले समय में घरेलू कोयले का उत्पादन बढ़ाएगा। यह 2021 में 793 मिलियन टन से बढ़कर 2024 तक 955 मिलियन टन होने के उम्मीद है। यह स्थिति कॉप-26 के निर्णायक मसौदे में चरणबद्ध तरीके से कोयले का उपयोग कम करते जाने के भारत के वादे से बहुत दूर है। इस ज्वलंत मुद्दे पर चीन और अमेरिका जैसे देशों के समर्थन के बावजूद पश्चिमी मीडिया घरानों ने इन देशों की काफी खिंचाई की थी। भारत की जमीनी हकीकत जटिल है। उसे ऊर्जा की पहुंच, लोगों की आजीविका और गरीबी में कमी जैसे विकास लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए, स्पष्ट रणनीतिक इरादे और सुविचारित योजना के साथ कोयले से अलग होते जाना चाहिए। इसके साथ ही जितनी जल्दी संभव हो, भारत को शून्य कॉर्बन ऊर्जा-प्रणाली की ओर जाने वाले प्रयासों को तेज करना होगा। केंद्र सरकार के घरेलू स्तर के प्रयासों और वैश्विक वादों के बीच अंतर्विरोध नहीं होना चाहिए। पिछले हफ्ते, 'भारत की ऊर्जा सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए एक कदम' अभियान में कोयला मंत्री प्रहलाद जोशी ने दावा किया कि देश ने वाणिज्यिक खनन के लिए कोयला खदानों की नीलामी के चौथे दौर की शुरुआत की, जिसमें 99 ब्लॉक बिक्री के लिए थे। उन्होंने यह भी कहा कि आने वाले कम से कम तीस से चालीस सालों तक कोयला भारत के ऊर्जा क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहेगा। आईईए के कार्यकारी निदेशक फतिह बिरोल के मुताबिक, ' कोयला वैश्विक कार्बन उत्सर्जन का एकमात्र सबसे बड़ा स्रोत है, और इस साल ऐतिहासिक रूप से कोयले से बिजली-उत्पादन में उच्च स्तर का आना, इस बात का चिंताजनक संकेत है कि शून्य उत्सर्जन हासिल करने के अपने प्रयासों से दुनिया अभी कितनी दूर है।'

कोविड-19 के घातक संक्रमण से बचा सकता है विटामिन डी3

मुंबई। नोवेल कोरोना वायरस के नए वैरिएंट, ओमिक्रॉन ने कोविड-19 की वैक्सीन की क्षमता को लेकर सवाल खड़े कर दिए हैं। इसके चलते स्वास्थ्य विशेषज्ञ इस वैक्सीन की प्रतिरोधक क्षमता के अलावा भी इस बीमारी को नियंत्रित करने वाले उपायों पर विचार कर रहे हैं।

मेडिकल आंकड़ों पर बारीक नजर रखने वाले सर्च इंजन पबमेड में प्रकाशित एक ताजा अध्ययन में पाया गया कि पहले से कोरोना से पीड़ित मरीजों में जिनका डी3 सीरम स्तर काफी बढ़ा हुआ था, उनके कोविड-19 से भयंकर रूप से प्रभावित होने की आशंका बहुत कम थी। यह अध्ययन बहु-विश्लेषित किए गए आंकड़ों के दो सेटों पर आधारित था- पहले सेट में 19 देशों के लोगों के विटामिन डी3 स्तर को लंबे समय तक जांचा गया और दूसरे सेट में अस्पताल में भर्ती 1601 मरीजों का परीक्षण किया गया, जिनमें से 784 मरीजों के विटामिन डी3 का स्तर भर्ती के एक दिन के अंदर मापा गया जबकि 817 के विटामिन डी3 का स्तर पहले से पता था। दोनों सेटों के अध्ययन ने विटामिन डी3 के स्तर और कोविड-19 से होने वाली मौतों के बीच विपरीत संबंध की पुष्टि की। वैक्सीन के महत्व को शोध के माध्यम से बार-बार रेखांकित किया गया है, जिसमें सिफारिश की गई है कि विटामिन डी3 सप्लीमेंट द्वारा पूरी आबादी के प्रतिरोधी तंत्र को नियमित रूप से मजबूत करने के साथ-साथ वैक्सिनेशन कराना, पचास नैनोग्राम प्रति मिलीलीटर से ऊपर रक्त स्तर की नियमित गारंटी देता है। इसके मुताबिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से देखें तो यह भविष्य में कोरोना के कारण लगाई जाने वाली पाबंदियों और लॉकडाउन की संभावना को बहतु सीमित कर देगा। आर्थिक नजरिये से देखें तो यह पूरी दुनिया में अरबों डॉलर बचाएगा क्योंकि विटामिन डी3 महंगा नहीं है और वैक्सीन के साथ इसका संयोजन सार्स- कोवी-2 के संक्रमण को रोकने में काफी मददगार होता है।

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक सोनल मेहता केलिए प्रतीक्षा ग्राफिक्स, 127 देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर (म.प्र.) से मुद्रित एवं 209-बी शहनाई रेसीडेंसी-2 कनाड़िया रोड इंदौर (म.प्र.) से प्रकाशित। संपादक: डॉ. सोनल मेहता फोन : 0731-2595008 Mail.sonal12mehta@yahoo.co.in 9755040008